

डॉ. मैक्सीन बर्न्टसेन का परिचय:

डॉ. मैक्सीन बर्न्टसेन अमेरिका से भारत आकर बसी सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञानी हैं। लगभग 30 वर्षों तक महाराष्ट्र में स्कूली स्तर पर भाषा शिक्षण पर काम करने के बाद वर्तमान में टाटा इंस्टीट्यूट अहमद सोशल साइंसेज (टीआईएसएस) की हैदराबाद शाखा में प्रोफेसर हैं।



लेख किस बारे में हैं :

हम सभी बच्चों के सीखने सिखाने से सम्बंधित कार्य से जुड़े हुए हैं | इस दौरान हम हमेशा चिंतित रहते हैं कि बच्चे सीख नहीं पा रहे हैं | आमूमन हम उनके न पढ़ व लिख पाने की समस्या से जुझते रहते हैं | मैक्सीन बर्न्टसेन का यह लेख **“प्रारंभिक साक्षरता अध्यापन एवं अधिगम : अवधारणात्मक स्पष्टता की जरूरत”** ,

इसी चिंता पर गहराई से पड़ताल करता है , एक रास्त खोजता है, एक दिशा दिखता है तथा सीखने सिखाने की प्रक्रिया क्या होती है इसे समझने में मदद करता है | इसके साथ ही यह लेख बच्चों के पढ़ने और लिखने की प्रक्रियाओं की आधारभूत समझ विकसित करने में मदद करता है | इस लेख में लेखिका ने अपने निजी अनुभवों का उल्लेख करते हुए बच्चों के न सीख पाने के कारणों तथा पठन व लेखन के अवसरों पर विश्लेषणात्मक टिप्पणीयाँ प्रस्तुत की है | यह लेख हमें यह समझने में मदद देगा कि पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु को किस तरह प्रस्तुत करने से बच्चों के सीखने पर प्रभावी रूप से बदलाव दिखाई देते हैं | अतः हम आशा करते हैं कि आपको यह लेख बच्चों के पढ़ने लिखने में आ रही समस्याओं को समझने व उन्हें दूर करने में मदद करेगा |

प्रारंभिक साक्षरता अध्यापन एवं अधिगम :

अवधारणात्मक स्पष्टता की जरूरत

बीज वक्तव्य, राष्ट्रीय प्रारंभिक साक्षरता सम्मेलन

दिल्ली, 14-15 दिसंबर 2017

मैक्सीन बर्न्टसेन
प्रोफेसर एमेरीटा, टिस हैदराबाद

अनुवाद : योगेंद्र दत्त

साथियो, ये मेरे लिए बहुत सम्मान और खुशी की बात है कि मुझे प्रारंभिक साक्षरता पर आयोजित इस राष्ट्रीय सम्मेलन में बीज वक्तव्य देने के लिए आमंत्रित किया गया है। मुझे यह मौका देने के लिए मैं आयोजकों का शुक्रिया अदा करती हूँ।

तीन दशक से भी ज्यादा पहले की बात है - 1984 की - जब मैंने इस बात की भर्त्सना करते हुए एक छोटा-सा लेख लिखा था कि जहां एक तरफ पश्चिमी देशों में इस बात पर तीखी बहसें चल रही हैं कि बच्चों को पढ़ना और लिखना कैसे सिखाया जाना चाहिए, वहीं दूसरी तरफ भारत में इस बात की किसी को खास परवाह ही नहीं है। जब मैंने वह लेख लिखा, उस वक्त मुझे पूरी उम्मीद थी कि जल्दी ही प्रारंभिक साक्षरता अध्यापन पर एक राष्ट्रव्यापी बहस छिड़ जाएगी मगर ऐसा कुछ नहीं हो पाया।

खैर, पिछले दो या तीन दशकों के दौरान चीजें थोड़ी तो जरूर बदलने लगी हैं। अलग-अलग स्तरों पर - केंद्र एवं राज्य सरकारों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों, फंडिंग एजेंसियों, गैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ), शिक्षा संस्थानों, अनौपचारिक नेटवर्कों और व्यक्तियों के स्तर पर प्रारंभिक वर्षों में साक्षरता अध्यापन के अलग-अलग पहलुओं को लेकर कुछ ध्यान तो दिया जाने लगा है।

अभी दो हफ्ते पहले मैं पूना में थी। वहां अचानक मुझे इस बात का एहसास हुआ कि देखते-देखते हम कितना लंबा सफर तय कर चुके हैं। वहां प्रगत शिक्षा संस्था ने टाटा ट्रस्ट्स और यूएस एड की मदद से बाल साक्षरता पर एक राज्य स्तरीय सम्मेलन का आयोजन किया था। इस सम्मेलन में प्री-स्कूल और प्रारंभिक या प्राथमिक कक्षाओं में भाषा व साक्षरता अध्यापन के अलग-अलग पहलुओं पर चर्चा करने के लिए पूरे महाराष्ट्र से तकरीबन 200 सहभागी जमा हुए थे। कमोबेश ये सारे सहभागी स्कूली अध्यापक या लाइब्रेरियन थे/थीं।

इस सम्मेलन में मैंने जैसा जोश और प्रतिबद्धता देखी, वह अचंभित करने वाली थी। छोटी-सी कद-काठी की एक लाइब्रेरियन ने बताया कि कैसे खुद उन्होंने भी स्कूल से बाहर रहते हुए पढ़ना-लिखना सीखा था। उन्होंने बताया कि वह किराने की दुकान से कागज के छोटे-छोटे पुर्जे उठा लाया करती थीं और उन्हीं को पढ़-पढ़कर अपना अभ्यास करती थीं। अब वह अपने गांव के एक-एक बच्चे को किताबों की दुनिया में लाने के लिए कमर कस चुकी हैं। एक गैर-आदिवासी अध्यापक ने बताया कि कैसे उन्होंने पावरी और भिलोली जैसी जनजातीय भाषाओं के शब्दों की सूचियां तैयार की हैं। एक आदमी ने बताया कि कमला निम्बकार बाल भवन के बच्चों को लिखते देख कर उन्हें भी अपने विद्यार्थियों से क्रियेटिव राइटिंग कराने की नई प्रेरणा मिली है।

हालांकि मुझे आखिरी सत्र के बीच से ही लौटना पड़ा मगर मैं यह अच्छी तरह समझ गई थी कि इनमें से बहुत सारे अध्यापक व लाइब्रेरियन और ज्यादा सैद्धांतिक आयामों को समझना चाहते हैं। वे भी चाहते हैं कि समय-समय पर अकादमिक जगत के लोगों से उनका संवाद होता रहे।

पुणे में हुआ यह सम्मेलन, आज का सम्मेलन, और पिछले दो या तीन दशकों के दौरान अलग-अलग स्तरों पर हुई गहमागहमी, इन सबको देखकर मेरे अंदर एक उम्मीद पैदा हुई है कि हम एक महत्वपूर्ण मोड़ पर पहुंच रहे हैं - हम अपने देश के प्रत्येक बच्चे को पूर्ण रूप से साक्षर बनाने की अनिवार्यता और साधनों के बारे में एक राष्ट्रीय आम सहमति विकसित करने के काफी नजदीक पहुंच गए हैं।

आज का सम्मेलन

मौजूदा सम्मेलन दो थीम्स पर केंद्रित है : एक तो भाषा व साक्षरता की संदर्भगत समझदारी पर; और दूसरा यह समझने पर कि बच्चे कैसे सीखते हैं। मैं कहना चाहती हूं कि बच्चे साक्षरता कैसे अर्जित करते हैं (या कैसे इसमें विफल हो जाते हैं), यह समझने के लिए सबसे पहले हमारे पास इस बात का स्पष्ट अवधानात्मक मॉडल होना चाहिए कि साक्षर होने हेतु सीखने सिखाने की प्रक्रिया क्या होती है।

इस मॉडल के बारे में जितना ज्यादा मैंने सोचा है, उतना ही यह एहसास मुझे होता गया है कि इसको पूरे विस्तार से बताना जरूरी है। आज मैं आपके सामने यही कोशिश करने जा रही हूं। काश मैं बच्चों - खासतौर से हाशियाई पृष्ठभूमि के बच्चों - के लेखन के कुछ उदाहरण और अपने कुछ तजुर्बे भी आपके साथ साझा कर पाती मगर जाहिर है कि आज मेरे पास इतना समय नहीं है। तो मैं अपनी बात साक्षरता सीखने के मॉडल के सवाल तक ही सीमित रखूंगी। मैं उम्मीद करती हूं कि आपको मेरी बातें बहुत उबाऊ नहीं लगेंगी। अगर वक्त बचा तो आखिर में मैं एक छोटी-सी कहानी और एक कविता भी आपके साथ साझा करूंगी।

सम्मेलन के अगले सत्रों में आने वाले वक्ता बच्चों की सामाजिक पृष्ठभूमि, बहुभाषी संदर्भ, पद्धति या तौर-तरीकों पर बात करेंगे। यह सारी चर्चा से अपने आपको ऊर्जावान महसूस करेंगे |

खैर, मैं अपने वक्तव्य के अलग-अलग पहलुओं को एक आत्मकथात्मक सूत्र में पिरो कर आपके सामने रखूंगी। उम्मीद है कि आपको भी इस पर ऐतराज नहीं होगा। असल में मैं साक्षरता के सिद्धांत और व्यवहार को समझने की अपनी अवधारणात्मक यात्रा के कुछ पड़ाव आपके साथ साझा करना चाहती हूं।

आत्मकथात्मक मध्यांतर

पहली बार मैं 1961 में भारत आई थी। हैदराबाद में। उस वक्त मेरी उम्र 26 साल थी। मैंने अंग्रेजी में मास्टर्स यानी स्नातकोत्तर की डिग्री पूरी की थी और हाईस्कूल में एक साल तथा मिडवेस्टर्न कॉलेज में दो साल पढ़ा चुकी थी। हैदराबाद में मेरे पास विवेकवर्धिनी कॉलेज में अंग्रेजी लेक्चरर की नौकरी थी। मैं इसी कॉलेज के संस्थापक और प्रधानाचार्य डॉ. एस.डी. सतवालेकर और उनकी पत्नी शांताबाई सतवालेकर के घर में रहा करती थी।

इसी प्रवास के दौरान मैंने तेलुगू सीखना शुरू किया क्योंकि यह मेरी दोस्त लीला की भी भाषा थी जिन्होंने हैदराबाद में मुझे नौकरी दिलाई थी। इसी क्रम में मैं कुछ समय बाद मराठी भी सीखने लगी। यह सतवालेकर परिवार की मातृभाषा थी।

शुरुआत में मैं सिर्फ अंग्रेजी जानती थी। शांताबाई मुझे पूरे शहरी में लेकर घुमाया करती थीं। मुझे जो भी मिलता, मेरे आस-पास से जो भी गुजरता मैं उसे मुस्कुरा कर देखती। लोगों के सामने सहज दिखने की भरसक कोशिश करती। मगर शांताबाई इसी से चिढ़ जाती थीं। जब लीला मुझे उत्तरी कर्नाटक के अपने गांव में लेकर गईं तो उनके घर में एक युवा नौकर हुआ करता था। वह पढ़ना-लिखना तो नहीं जानता था मगर कम से कम चार भाषाएं बोल लेता था। जहां तक मुझे याद पड़ता है, वह कन्नड़ा, तेलुगू, हिंदी और उर्दू तो बोल ही लेता था। घर के लोगों ने मुझे बताया कि वह मुझे हिंकारत की नजर से देखता था और कहा करता था, “इतनी सारी पढ़ाई का क्या फायदा? ये तो बात भी नहीं कर सकती!”

हैदराबाद में दो साल बिताने के बाद मैं अमेरिका लौट गई। यहां मैंने भाषाशास्त्र (लिंग्विस्टिक्स) में पीएचडी के लिए पेन्सिल्वेनिया विश्वविद्यालय में तीन साल का कोर्सवर्क किया। इस दौरान मैं मराठी और तेलुगू भी पढ़ती रही।

1966 में मैं भारत लौटी। इस बार मेरा पड़ाव पश्चिमी महाराष्ट्र का फल्टन कस्बा था। यह महाराष्ट्र का एक ताल्लुका मुख्यालय था। मैं फल्टन में मराठी भाषा में समाजिक-भाषाई भिन्नताओं पर शोधपत्र लिखने के लिए फील्ड वर्क करने आई थी।

ये एक पुर-उम्मीद दौर था। अभी छह साल पहले भाषाई आधार नए महाराष्ट्र राज्य का गठन किया गया था। 1968 में टेक्स्टबुक ब्यूरो का गठन किया गया था। और इसके कुछ ही समय बाद कक्षा I के लिए बालभारती का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था।

उस जमाने में मैं अपने शोधपत्र में ही मसरूफ थी लिहाजा, मैंने कई साल तक इस किताब को नहीं देखा था। मगर, जब इस किताब पर मेरी नजर पड़ी तो मैं वाकई बहुत प्रभावित हुई। किताब खूबसूरत थी। कागज, छपाई, साज-सज्जा, सभी कुछ बेहतरीन था। बालभारती की यह परंपरा आज तक कायम है।

किताब का सबसे बेजोड़ पहलू था लेखकों की कल्पनाशीलता, संवेदनशीलता और शिक्षाशास्त्रीय बुद्धि यानी सिखाने के तरीकों पर उनकी अद्भुत पकड़।

उस जमाने की बढ़िया अमेरिकन बेसल रीडर्स की तर्ज पर हर अध्याय एक या दो वाक्यों के साथ शुरू होता था। जिन शब्दों या अक्षरों का प्रयोग किया जा रहा था, उनकी सूची पन्ने के निचले हिस्से में दी गई थी। पहले तीन अध्यायों में सिर्फ मूलाक्षरों का प्रयोग किया गया था। चौथे अध्याय में बड़े आ के लिए स्वर चिन्ह का इस्तेमाल शुरू हो गया था। आगे के अध्यायों में बाकी स्वर चिन्ह (एब्रीविएटेड वॉवेल्स) भी एक-एक करके सामने आने लगे थे। कहने का मतलब यह था कि लेखकों ने स्वर चिन्ह पढ़ाने के लिए सारे मूलाक्षरों को कवर करने तक का इंतजार नहीं किया। इसका मतलब ये था कि बच्चों की पठन शब्दावली बहुत तेजी से बढ़ने लगती थी।

छठे अध्याय तक आते-आते बच्चा कायदे से निम्नलिखित पाठांश को पढ़ने में सक्षम हो जाना चाहिए था।

बाळ

बाळ बघा. बाळाचा पाळणा बघा.

आई, दाखव ना मला बाळ.

हात मऊ, पाय मऊ,

नाक लहान, कान लहान.

इवलासा बाळ. छान छान बाळ.

चल, चल बाळा, पायात वाळा.

बच्चा

बच्चे को देखो। पालने को देखो।

मामा, मुझे बच्चे को देखने दो।

कोमल हाथ, कोमल पांवा।

छोटी सी नाक, छोटे से कान,

छोटा, छोटा बच्चा, सुंदर बच्चा।

चल, चल बालक, कड़ा पहन कर चला।

इस किताब में बच्चों के लिए कविताएं या गीत लिखने वाले उस जमाने के कुछ बेहतरीन कवियों की कविताएं भी शामिल की गई थीं।

बालभारती का प्रयोग

सन् 1978 में बालभारती का संशोधित नया संस्करण प्रकाशित किया गया। पहले संस्करण की कुछ कहानियां और कविताएं इसमें भी मौजूद थीं। पहले वाली किताब की तरह यहां भी पहले अध्याय में सिर्फ छोटे-छोटे वाक्य थे। मगर, अबकी बार सारे मूलाक्षर कवर होने तक कोई स्वर चिन्ह इस्तेमाल नहीं किया गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि पहले 6 अध्यायों में जो वाक्य थे वे बहुत ही नकली या कृत्रिम किस्म के थे। मसलन ये वाक्य देखें :

(मूल वाक्य मराठी में है)

आई घर बघ.	मां, घर को देखो।
शरद घर बघ.	शरद, घर को देख।
अभय नळ बघ.	अभय, नल को देखो।
जगन अंगण बघ.	जगन, आंगन को देखो।
शरद चटई आण.	शरद, चटाई ला।
एक फणस आण.	एक कटहल ला।

1978 में जब मैंने बच्चों को पढ़ना और लिखना सिखाने की कोशिश शुरू की तो स्कूल में भी और हमारी सहायक कक्षा में भी, दोनों जगह बालभारती के इसी संस्करण का इस्तेमाल किया जा रहा था। लिहाजा मैं इस किताब के मामले में बच्चों के सामने पेश आने वाली समस्याओं को खुद देख सकती थी। मुझे कुछ ही दिन में यह बात समझ में आने लगी थी बच्चे न तो शब्दों को पढ़ पा रहे थे और न ही अक्षरों को पहचान पाते थे। बस वे उन वाक्यों को रट लेते थे।

कई बार तो बहुत अजीबोगरीब नजारा देखने को मिलता था। उदाहरण के लिए, जब मैंने एक बच्चे को 'आई' (मां) शब्द दिखाया तो वह खुद-ब-खुद बोल उठा, "आई घर बघ" (मां घर को देखो)। एक बार मैंने एक बच्चे को 'फणा' (सांप का फन) दिखाया तो उसने पढ़ा "फणस उचल" (कटहल उठा लो)।

जाहिर है कि जिन्होंने किताब लिखी थी उनका ऐसा कोई इरादा नहीं था। उन्होंने मान लिया होगा कि अध्यापक खुद एक-एक शब्द पढ़ाएंगे और अक्षरों को पहचानना सिखाएंगे मगर इस बात का पाठ्यपुस्तक में कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। और हमारी शिक्षा व्यवस्था की त्रासदी यह है कि ज्यादातर अध्यापक पाठ्यपुस्तक के आगे जाने से या तो डरते हैं या कतराते हैं।

समस्या क्या है?

बच्चों और मेरे बीच हुई बातचीत के जो उदाहरण मैंने ऊपर दिए हैं वे बालभारती के एक खास संस्करण से संबंधित थे। अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच इसी तरह के वार्तालाप हम देश भर की असंख्य कक्षाओं में हर रोज देख सकते हैं। हो ये रहा है कि शब्दों और अक्षरों की पहचान के नाम पर अक्षरों की ध्वनियां पीछे छूट जाती है। लिखित रिपोर्ट में भी इसी परिघटना का हवाला दिया गया है। भारतीय कक्षाओं में भारतीय लिपियां आमतौर पर किस तरह पढ़ाई जाती हैं, इस पर चर्चा करते हुए रिपोर्ट के लेखकों ने कहा है :

जब लिपि पढ़ाई जाती है तो अक्षरों को सीखने पर ज्यादा जोर दिया जाता है और उनकी ध्वनियों पर कम जोर दिया जाता है। बच्चे अक्षरों और शब्दों को ट्रेस और नकल करने पर तो खूब समय देते हैं मगर उन अक्षरों व शब्दों को ध्वनियों के साथ मिलाकर देखने पर पर्याप्त समय नहीं देते।

....

बच्चों को सीखने में मदद देने के लिए रटंत और अक्षर पहचान, इन्हीं दो तरीकों का ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है।

अभी मैंने बालभारती की जिस किताब का जिक्र किया उसमें पूर्ण शब्द - अथवा दृश्य शब्द/साइट वर्ड - पद्धति का इस्तेमाल किया गया था। उस जमाने में अमेरिका में भी कई साल से इस पद्धति का बड़ा बोलबाला चला आ रहा था। मगर तभी रूडोल्फ फ्लैश के लेख "व्हाय जॉनी कान्ट रीड" (1955 में प्रकाशित) ने सारी तस्वीर बदल डाली। इस लेख के प्रकाशन के बाद इस पद्धति की आलोचना का सिलसिला शुरू हुआ और धीरे-धीरे इस पद्धति का दबदबा टूटने लगा।

मुझे अच्छी तरह याद है कि मराठी कि लिए इस पद्धति की अनुपयुक्ता मुझे कितनी साफ दिखाई दे रही थी। मेरी दोस्त जय निम्बकार के यहां काम करने वाले एक व्यक्ति ने उन्हें बताया था कि उसकी बेटी स्कूल जाती है मगर पढ़ना नहीं सीख पा रही है। इस समस्या पर उसने जय से मदद मांगी। जय ने उसे मेरे बारे में बताया। उसे बताया कि मैं बच्चों को पढ़ना सिखाती हूं और वह चाहे तो अपनी बेटी को मेरे पास भेज सकता है। मैंने उस बच्ची के साथ इसी शब्द पद्धति से चलते हुए कई दिन तक कोशिश की मगर उसके प्रदर्शन में कोई खास बदलाव दिखाई नहीं दिया। आखिरकार लड़की के पिता ने जय से निवेदन किया कि वह खुद बच्ची को पढ़ाएं। और हैरानी की बात थी कि जय के पास जाते ही लड़की बहुत तेजी से तरक्की करने लगी। जब मैंने जय से पूछा कि उन्होंने क्या किया है जिससे लड़की तेजी से सीखने लगी है तो उन्होंने मुझे बताया कि उन्होंने परंपरागत पद्धति में ही थोड़ा फेरबदल कर दिया है। वह मराठी और देवनागरी लिपि की समानताओं पर ज्यादा जोर दे रही थीं। यह जानकर मुझे भी अहसास हुआ कि एक खारिज की जा चुकी अमेरिकी पद्धति से चिपके रह कर हम कितनी नादानी कर रहे हैं और भारतीय व्याकरणविदों से मिले अद्भुत उपहार की उपेक्षा किये चले जा रहे हैं।

मैं देख सकती हूं कि मेरे सामने एक से एक प्रबुद्ध लोग बैठे हैं। भारतीय लिपियों में अक्षर व ध्वनि के सहसंबंध के बारे में आप सभी जानते होंगे। आमतौर पर हम इस सहसंबंध को कोई खास महत्व नहीं देते और इसके गहरे निहितार्थों को नजरअंदाज कर बैठते हैं। इसीलिए अभी मैं थोड़ी देर लिखने की पद्धतियों के स्वरूप पर आपसे चर्चा करना चाहती हूं। मैं उम्मीद करती हूं कि आप इन साधारण बातों की चर्चा को वक्त की बरबादी नहीं मानेंगे।

लिखने की दो पद्धतियां

लिखने की दो मोटा-मोटी किस्में होती हैं : इंडियोग्राफिक (चित्रात्मक) पद्धति और एल्फाबेटिक (वर्णक्रमानुसार) पद्धति। (कुछ विशेषज्ञ भारतीय अथवा इंडिक स्क्रिप्ट्स को 'एल्फासिलेबिक' नामक एक अलग श्रेणी में भी रखते हैं मगर इस चर्चा के उद्देश्य से मैं इन लिपियों को अलग श्रेणी में रखकर नहीं देखूंगी।)

इंडियोग्राफिक पद्धति : एक इंडियोग्राफिक पद्धति या लिपि वह होती है जिसमें लिखित चिन्ह एक स्टाइलाइज्ड तस्वीर अथवा एक अलंकृत चित्र के रूप में किसी अवधारणा को व्यक्त करता है। प्रत्येक अक्षर/कैरेक्टर किसी विचार की दृश्यात्मक अभिव्यक्ति होता है। उसे पढ़ने पर आपको उसके उच्चारण के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

चीन की मेंडेरिन भाषा के लिए जो लिपि इस्तेमाल होती है वह एक इंडियोग्राफिक लिपि है। उदाहरण के लिए जरा इस अक्षर को देखें :

(चीनी अक्षर - 'पिंग एन')

平 平

इस अक्षर में बायीं तरफ जो हिस्सा है वह एक तराजू को निरूपित कर रहा है। यह 'संतुलन' या 'स्थिरता' को इंगित करता है। दाहिनी तरफ का हिस्सा अपनी छत के नीचे बैठी एक औरत को दर्शाता है। इस अक्षर का मतलब है 'शांति, सुरक्षा, भयमुक्ति/निरापदता।' मेंडेरिन भाषा में इसे "पिंग एन" उच्चारित किया जाता है और इसे एक तरह के अभिवादन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है - "आपकी जिंदगी में अमन चैन रहे।"

संज्ञानात्मक दृष्टिकोण से इसे सीखना बच्चे के लिए शायद आसान होगा। बच्चे को कुल मिलाकर चित्र को उसके अर्थ से जोड़ना भर है। मगर परेशानी ये है कि बच्चे को हर अक्षर और उसके अर्थ को अलग-अलग याद रखना पड़ेगा। हजारों अक्षरों और उनके अर्थों के जोड़ों को याद करने में सालों गुजर सकते हैं। यही कारण है कि परंपरागत चीन में किसी पढ़े-लिखे आदमी को बहुत भारी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

एल्फाबेटिक पद्धति : लिखने की दूसरी पद्धति एल्फाबेटिक पद्धति कहलाती है। इस पद्धति में हम कुछ निश्चित अक्षरों का प्रयोग करके उस भाषा के किसी भी शब्द को लिख सकते हैं। ऐसा कैसे संभव है? असल में हर भाषा में कुछ गिनी-चुनी ध्वनियां होती हैं। संबंधित भाषा के सारे शब्द इन्हीं ध्वनि इकाइयों को जोड़-जोड़ कर बनाए जाते हैं। इन ध्वनि खंडों या इकाइयों को हम स्वनिम/फोनीम के नाम से जानते हैं। अतः हम प्रत्येक फोनीम को एक-एक अक्षर/लेटर से जोड़ दें तो हम उस भाषा के किसी भी शब्द को लिख सकते हैं।

यह इंसानी मेधा का अद्भुत कमाल है! एल्फाबेटिक पद्धति के सौंदर्य और वैभव को हम इसलिए नजरअंदाज कर जाते हैं क्योंकि हम रोज, हर घड़ी इससे रू-ब-रू होते रहते हैं।

खैर, यह पद्धति भी पूरी तरह समस्या मुक्त नहीं है। इसकी एक समस्या है भाषा विशिष्टता यानी यह निश्चित भाषाओं के साथ बंधी रहती है। हो सकता है कि इतिहास के किसी दौर में हिज्जे के भीतर अक्षरों और ध्वनियों के बीच सीधा-सीधा सहसंबंध रहा हो। मगर, जैसे-जैसे समय बीता, बोली गई भाषाएं बदलती चली गईं और शब्दों के हिज्जे वही के वही अटके रह गए। नतीजा, शब्दों के हिज्जे लगातार अनियमित, उच्चारण के साथ बेमेल होते चले गए।

अंग्रेजी में बिलकुल यही हुआ है। बारहवीं शताब्दी में, चौसर के जमाने में हिज्जे काफी नियमित और स्थिर थे। 'night' शब्द को 'nicht' बोला जाता था और उसकी हिज्जे 'night' हुआ करती थी। इसी तरह 'light' को 'licht' बोला जाता था। (अगर रात में light नहीं होती थी तो आप गिर सकते थे और आपके घुटने छिल सकते थे।) चौसर की कविता "The Knight's Tale" में कवि ने कविता के मुख्य किरदार, दयालु नाइट (नवाब) के बारे में कहा है, "He was a very parfit gentil knight"। तब से अब तक आए बदलावों को मुड़कर देखेंगे तो आपकी हंसी छूट जाएगी। तब, कल्पना कीजिए कि अंग्रेजी पढ़ना और लिखना सीखने की कोशिश कर रहे बच्चे के लिए तो यह लोहे के चने चबाने जैसा है, एक nightmare (nictmare!)।

जैसा कि हम पीछे भी देख चुके हैं, ज्यादातर भारतीय भाषाओं में इससे कहीं ज्यादा नियमितता दिखाई पड़ती है। यहां आमतौर पर एक ध्वनि के लिए एक ही अक्षर होता है और हर अक्षर की अपनी एक ध्वनि है। एक दौर था जब मैं सोचती थी कि अगर बच्चा ध्वनि-अक्षर सहसंबंध पर अपनी पकड़ बना ले तो वह पढ़ना सीख जाएगा। अब मैं कह सकती हूं कि यह बात इतनी साधारण भी नहीं है।

हमें इस बात को समझना है कि एक एल्फाबेटिक पद्धति में किसी भी दिए गए शब्द के लिए संज्ञानात्मक जटिलता इंडियोग्राफिक पद्धति के मुकाबले ज्यादा होती है। इंडियोग्राफिक पद्धति में दो हिस्से होते हैं - अक्षर और अर्थ। इसके बजाय, एल्फाबेटिक पद्धति में बच्चे और उसके अध्यापक, दोनों के सामने तीन भागों वाली व्यवस्था होती है : अक्षर - ध्वनि - अर्थ। यह अध्यापक की जिम्मेदारी है कि वह बच्चे को इन तीनों हिस्सों को आपस में जोड़ना सिखाए। कुछ बच्चों को इसमें कोई परेशानी नहीं होती मगर कुछ बच्चे इससे जूझते ही रह जाते हैं।

कठिनाई है क्या? मार्ग्रेट डोनल्डसन ने कहा है कि जब तक बच्चे स्कूल नहीं आते, उनकी सारी सोच बाहरी दुनिया की तरफ केंद्रित रहती है। स्कूल में आने पर उनकी निगाह भीतर की तरफ मुड़ती है और वे सोचने और बोलने की प्रक्रिया पर गौर करने के लिए विवश हो जाते हैं : “शब्द क्या होता है? फलां शब्द की पहली ध्वनि कौन सी होती है? फलां शब्द का क्या मतलब है?”

मार्ग्रेट डोनल्डसन का कहना है कि अपने मस्तिष्क की अंदरूनी दुनिया के बारे में सोचने की यह क्षमता - जिसे आप मेटाकॉग्निशन अथवा परासंज्ञान भी कहते हैं - ही स्कूल में सीखने की सबसे बुनियादी जरूरत होती है। (मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि निरक्षर लोग ऐसा नहीं कर सकते। यह हमारी मौजूदा चर्चा से इतर प्रश्न है इसलिए फिलहाल मैं इस सवाल को छोड़ देती हूँ।)

अब तक का सार

तो हम अभी कहां पहुंचे हैं? अभी मैंने ये दलील दी है कि हमारी इंडिक लिपियां मूल रूप से एल्फाबेटिक लिपियां ही हैं और इन भाषाओं में किसी शब्द को पढ़ना या लिखना सीखने के लिए जरूरी है कि हम तीन हिस्सों को आपस में जोड़कर रखना सीखें जिसमें ध्वनि इकाइयां मिल कर शब्द की रचना करती हैं, शब्द का एक अर्थ होता है, और अक्षर होते हैं जो अलग-अलग ध्वनि इकाइयों को निरूपित करते हैं।

इसके अलावा मैंने ये तर्क दिया (और लिरिल के डेटा से भी ये पता चलता है) कि देश भर की कक्षाओं में अक्षरों और संभवतः अर्थ पर ध्यान केंद्रित करने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा दिखाई देती है। इस चक्कर में ध्वनियां अकसर छूटने लगती हैं।

हमेशा ऐसा नहीं होता। कुछ अध्यापक इस बात को समझते हैं कि पढ़ना या लिखना सीखने के लिए शुरुआती दौर में बच्चों को उन शब्दों को बोल-बोलकर पढ़ना होता है। हालांकि यह एक सराहनीय सुझाव है मगर इससे सकते में डाल देने वाले नतीजे भी आ सकते हैं।

शब्दों को बोल-बोल कर सीखना

मैंने पीछे जिक्र किया था, मैंने अपनी शैक्षिक यात्रा फल्टन नामक कस्बे से शुरू की थी जहां मैं हाशियाई समुदायों के बच्चों को पढ़ना व लिखना सिखाया करती थी। हमने पास के ही एक नगर पालिका स्कूल में बच्चों को दाखिल कराया था और दोपहर को वहां बच्चों के लिए सहायक कक्षाएं चलाया करते थे।

सरकारी स्कूल में इन बच्चों की अध्यापिका जानती थी कि उन्हें देवनागरी लिपि के अक्षर पढ़ाने का जिम्मा सौंपा गया है। देश के असंख्य भागों में न जाने कब से अपनायी जा रही पद्धति का अनुसरण करते हुए वह भी बच्चों को परंपरागत ढंग से वर्णमाला को समवेत स्वर में रटवाया करती थीं। उस समय इसके लिए बारहखड़ी का इस्तेमाल होता था। इसके अलावा वह उन्हें “A is for Apple” की तर्ज पर प्रत्येक मूलाक्षर के लिए मराठी का कोई शब्द भी सिखाया करती थीं। इस तरह, ‘ग’ अक्षर के लिए ‘ग ग गणपतीचा’ रटवाया जाता था।

स्वर चिन्हों को जोड़ना अगला कदम होता था। मराठी में प्रत्येक स्वर चिन्ह का एक नाम होता है : लंबे /अ/ के लिए काना, /इ/ के लिए वेलंती, /उ/ के लिए उकार वगैरह।

इस सारी जानकारी से लैस बच्चे से उम्मीद की जाती थी कि वह सामान्य शब्दों को आसानी से बोलने लगेगा। लिहाजा, मैंने एक बच्चे को ‘बदक’ (बत्तख) शब्द दिखाया तो उसने उसे पढ़ा, ‘ब ब बदकाचा’, ‘द द दौतीचा’, ‘क क कपाचा’। जब उससे पूछा गया कि शब्द क्या है तो उसने कहा ‘कप’।

तब मैंने उसे एक और शब्द दिखाया - ‘बादली’ (बाल्टी)। उसने फिर पढ़कर सुना दिया :

‘ब ब बदकाचा’, ‘ब - ला काना बा-’, ‘द द दौतीचा’, ‘ल ल लसणीचा’, ‘ल - ला दुसरी बेलांटी ली’। मुझे नहीं लगता कि उसने शब्द को पहचानने की कोई चेष्टा भी की होगी।

यहां क्या चल रहा है? असल में बच्चे की खोपड़ी में अनावश्यक, ध्यान भटकाने वाली सूचनाएं टूंस दी जा रही हैं।

हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि हमारी अल्पकालिक स्मृति केवल बारह सेकेंड की ही होती है। अगर बच्चे को कोई शब्द पढ़ने में इससे ज्यादा समय लगता है तो वह उसे अपनी स्मृति में संभालकर नहीं रख पाएगा।

इससे क्या सबक मिलता है? हमें बच्चों को बुनियादी चीजों पर ध्यान केंद्रित करने में मदद देनी चाहिए। 'बदक' शब्द को पढ़ने के लिए बच्चे को एक बार में पूरा शब्द कहने की कोशिश करनी चाहिए। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता है तो उसे ब द क, बदक कहना चाहिए। बादली कहने के लिए उसे बादली कहने का प्रयास करना चाहिए। अगर उसे इसकी अलग-अलग आवाजें निकालनी हैं तो उसे कहना चाहिए ब - ला आ बा, द, ल-ला ई, ली, बादली।

जोड़कर रखना

थोड़ी देर पहले मैंने कहा था कि किसी शब्द को पढ़ने के लिए बच्चे को ध्वनि, अर्थ और अक्षर वाले तीन हिस्सों के पैकेज को आपस में गूंथना होता है। और जी हां, लोग आमतौर पर सिर्फ अलग-अलग शब्दों को ही नहीं पढ़ते। आमतौर पर वे वाक्यों, कहानियों, लेखों को पढ़ते हैं, संदेशों, फेसबुक पोस्ट्स और इसी तरह की बहुत सारी दूसरी चीजों को पढ़ते हैं।

एक नवसाक्षर बच्चे को फेसबुक पोस्टिंग से जूझने की जरूरत नहीं होती। मगर उसे सरल शब्दों को जरूर पहचानना होता है। और उसे भी दो-तीन शब्दों वाले छोटे-छोटे वाक्यों को तो समझने की चेष्टा करनी ही पड़ती है। ऐसा बच्चा तीन भागों वाले इस पैकेज को कैसे एक-दूसरे में जोड़ सकता है और कैसे लगातार फैलते इस पैकेज को कायम रखते हुए वाक्य के शुरू से आखिर तक जा सकता है?

न्यूजीलैंड की दो महिलाओं की रचनाओं में हमें इन सवालियों के जवाब मिल सकते हैं। इनमें से एक थीं सिल्विया ऐश्टन-वॉर्नर जो माओरी कबीले के बच्चों को पढ़ाया करती थीं। ऐश्टन-वॉर्नर बताती हैं कि हमारे दिमाग में किसी शब्द को एकबद्ध रखने वाली ताकत एक भावनात्मक आवेग होता है - एक ऐसी सकारात्मक या नकारात्मक भावना जो बच्चे को क्षणांश में किसी शब्द को पकड़ने और संभालकर रखने के लिए सक्षम बना देती है। उन्होंने बहुत सारे बच्चों से उनकी मुख्य शब्दावलिियां इकट्ठा कीं। इन सारी शब्दावलियों में 'मां', 'प्यार', 'नफरत', 'मार देना' जैसे सघन भावनात्मक आवेश वाले शब्द मौजूद थे।

इस फेहरिस्त में न्यूजीलैंड की दूसरी महिला थीं मेरी क्ले। वह एक डेवलपमेंटल साइकोलॉजिस्ट यानी विकास मनोवैज्ञानिक थीं। उनका मानना था कि साक्षर होना एक आंतरिक नियंत्रण का विकास होता है। क्ले ने इस बात पर जोर दिया कि पढ़ना या लिखना सीखते हुए बच्चा अपने मस्तिष्क में न्यूरल नेटवर्क स्थापित करता जाता है। बच्चा जितना ज्यादा पढ़ता और लिखता है, मस्तिष्क में न्यूरल नेटवर्क उतने ही घने और मजबूत होते जाते हैं। (कहने की जरूरत नहीं कि मैंने अभी जो अतिसरलीकृत तस्वीर दी है, उसके मुकाबले में यह प्रक्रिया सैकड़ों गुना ज्यादा पेचीदा होती है)।

अध्यापक

इस छोटे से खाके में भी मैं अगर अध्यापक का जिक् न करूं तो ये सरासर नाइंसाफी होगी। खासतौर से नवसाक्षर घरों से आ रहे बच्चों के मामले में। उनके लिए तो एक संवेदनशील, धैर्यवान अध्यापक/अध्यापिका का सहारा बहुत ही लाजिमी होता है।

इस प्रसंग में मैं आपको प्रगत वाचन पद्धति (पीएसएस की पठन पद्धति) के बारे में एक संक्षिप्त क्लिप दिखाना चाहती हूं। इस क्लिप में पीएसएस अध्यापक दत्ता अहिले जिला परिषद स्कूल में दूसरी कक्षा के बच्चों को पढ़ा रहे हैं। ये ऐसे बच्चे हैं जो अपने ग्रेड के लिए अपेक्षित स्तर तक नहीं पढ़ पा रहे थे। दत्ता सर की भी इस फिल्म की शूटिंग के पहले तक इन बच्चों से कोई जान-पहचान नहीं थी।

मैं आपको जो क्लिप दिखा रही हूं वह एक वाक्य पढ़ने से संबंधित हिस्से की है। दत्ता सर ने बोर्ड पर 'हा माझा मामा' (ये मेरे मामा हैं) वाक्य लिखा है और एक लड़की से इसे पढ़कर सुनाने को कहा है। आप खुद देखें कि बच्ची इस वाक्य में दिए

गए सिलेबल/अक्षरांशों और शब्दों को संभालने में कितनी जूझ रही है और किस तरह दत्ता सर धैर्यपूर्वक उसका साथ दे रहे हैं। मुझे यकीन है कि मेरी तरह आपको भी यह दृश्य मर्मस्पर्शी लगेगा।

(फिल्म क्लिप)

https://drive.google.com/file/d/1Vw6dukRI2LT9_sPLKvj-Q_z4d9QLXmep/view?usp=sharing

अब मैं आपके साथ एक कहानी और एक छोटी सी कविता साझा करना चाहती हूँ। मेरा खयाल में ये दोनों थीम इस सम्मेलन की थीम से जुड़ती हैं। शुरू में मैंने जिस राज्य स्तरीय बाल साक्षरता सम्मेलन का जिक्र किया था, वह फल्टन स्थित प्रगत शिक्षण संस्था की प्रारंभिक साक्षरता परियोजना का एक कार्यक्रम था। प्रकाश अण्भुले इस परियोजना के निदेशक हैं। वह स्कूल के सबसे पहले बैच से ही हमारे स्कूल से जुड़े हैं। प्रकाश एक बहुत गरीब परिवार से आए थे। तब उनका परिवार शहर के किनारे पर एक बहुत मामूली-सी झोपड़ी में रहा करता था। उनके माता-पिता ने सबसे नजदीक के नगरपालिका स्कूल में उनका दाखिला कराया था। यह स्कूल घुमंतू कबीलों के बच्चों के लिए चलाया जा रहा था। वहां के मास्टर साहब और तो कुछ खास नहीं करते थे मगर बीच-बीच में आकर बच्चों को डांटते और दो-चार को पीट जरूर दिया करते थे। प्रकाश और उनके कुछ दोस्तों ने तंग आकर यहां से पल्ला झाड़ लिया। स्कूल जाने की बजाय वे पास ही बने एक मंदिर में चले जाते और कुछ काम न होने के चलते वहीं गानों और कविताओं की तुकबंदियां रचने लगे। उनको पढ़ने और लिखने के बारे में कुछ भी इल्म नहीं था मगर वे अपने ही घर के पास रहने वाले गोंधली जैसे परंपरागत लोक कलाकारों के गीतों से बखूबी परिचित थे। वैसे भी प्रकाश जब सुबह उठते तो अकसर उन्हें उनके पिता की आवाज में कबीर के दोहे सुनाई पड़ते थे।

आखिरकार प्रकाश के परिवार को भी ये चिंता सताने लगी कि लड़का पढ़ नहीं पा रहा है। सहजबुद्धि से उन्होंने भी यही मान लिया कि उसके साथ कुछ न कुछ गड़बड़ जरूर है। वे उसे लेकर डॉ. मंजरी निम्बकार के पास पहुंचे जो उस वक्त मानसिक रूप से विकलांग बच्चों के लिए एक स्कूल चला रही थीं। निम्बकार ने कहा कि इस लड़के में कोई कमी नहीं है और मां बाप को सलाह दी कि वे उसे कमला निम्बकार बाल भवन में दाखिल करा दें जहां अभी-अभी किंडर गार्डन की कक्षाएं शुरू की गई थीं। इस स्कूल में दाखिला लेते ही प्रकाश को समझ में आ गया कि अब वे सही जगह पहुंच गए हैं। और तब से आज तक वह वहीं हैं - सिवाय उन कुछ सालों के, जब वह इंटरमीडिएट और कॉलेज में पढ़ने गए थे।

जब वह चौथी कक्षा में थे तो अध्यापिका ने बच्चों को कविताएं लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके जवाब में कुछ बच्चों ने कविताएं लिखी थीं। एक दिन अध्यापिका ने उन्हें चौदहवीं शताब्दी के दलित कवि चोखामेला की एक अभंग पढ़ायी। यह कविता कुछ यों थी :

<p>उस डोंगा परी रस नाही डोंगा, का भुललासी वरल्या सोंगा? नदी डोंगा परी जल नाही डोंगा, का भुललासी वरल्या सोंगा? चोखा डोंगा परी भाव नाही डोंगा, का भुललासी वरल्या सोंगा?</p>	<p>गन्ना टेढ़ा है मगर उसका रस टेढ़ा नहीं होता, बाहर के दिखावे से धोखा क्यों खाना। नदी टेढ़ी होती है मगर पानी टेढ़ा नहीं होता, बाहर के दिखावे से धोखा क्यों खाना? चोखा टेढ़ा है मगर उसकी भावनाएं टेढ़ी नहीं हैं, बाहर के दिखावे से धोखा क्यों खाना?</p>
---	--

एक जमाने में बीज गोदाम रही इमारत में पढ़ रहे निपट साधनहीन परिवार से आए प्रकाश ने भी जवाब में ऐ अभंग रच डाला :

<p>आई डोंगा परी प्रेम नाही डोंगा, का भुललासी वरल्या सोंगा? शाळा डोंगा परी शिक्षण नाही डोंगा, का भुललासी वरल्या सोंगा? प्रकाश डोंगा परी गुण नाही डोंगा, का भुललासी वरल्या सोंगा?</p>	<p>मां टेढ़ी है मगर उसका प्रेम टेढ़ा नहीं है, बाहरी आवरण से धोखा क्यों खाना? स्कूल टेढ़ा है मगर शिक्षा टेढ़ी नहीं है, बाहरी आवरण से धोखा क्यों खाना? प्रकाश टेढ़ा है पर उसकी प्रतिभा टेढ़ी नहीं है, बाहरी आवरण से धोखा क्यों खाना?</p>
--	---

इस बच्चे में एक स्वबोध जन्म ले चुका था। महाराष्ट्र की समृद्ध साहित्यिक परंपरा से जुड़कर उसने अपने वजूद का ऐलान कर दिया था। क्या आज हम भी अपने स्कूलों के एक-एक बच्चे को वह ढूंढने के उपकरण मुहैया कराने का संकल्प ले सकते हैं जो वे बच्चे पाना चाहते हैं। संत ज्ञानेश्वर के शब्दों में :

जो जे वान्चील तो ते लाभो, प्राणिजात.